ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBBIL04292
RNI REG. NO. UPBBIL/2014/66218 PP. NO.- 40-41
ISSN NO.-2347-2944
Vol-12, Issues-XII YEAR 2018 Extra

जैन साहित्य में राज व्यवस्था का स्वरूप

अंगद प्रसाद गुप्ता
प्राचार्य– (प्राचीन इतिहास) श्री जमुना राम स्नातकोत्तर महाविद्यालय–चित्तबडागाँव, बलिया (उ0प्र0) भारत

Received- 03 .05. 2018, Revised- 07 .05. 2018, Accepted - 11.05.2018 E-mail: rksharpur2@gmail.com

सारांश : *प्रारम्भिक दार्शनिकों अनुसार, समाज आदर्श जीवन की एक नैतिक व्यवस्था है, जिसमें राज्य का एक निश्चित स्थान है।1 किन्तु समाज राज्य से पूर्व नहीं था । दोनों का साथ ही साथ क्रमिक विकास हुआ । विकास स्वतः नहीं था। प्रत्युत उसके प्रत्येक चरण पर आदि पुरुष अथवा तीर्थंकरों ने, जो धार्मिक बंधन से मुक्त हो कर जीवन में सर्वज्ञता प्राप्त कर अरहंत हो चुके थे, अवतरित हो उसे वर्धित किया। जैन मुनि सभ्यता तथा व्यक्ति की संस्थाओं के विकास का मानव – विज्ञान का एक कल्पना – मिश्रित इतिहास प्रस्तुत करते है। वे विश्वीय समय – चक्र को दो भागों में विभाजित करते है। पहला– उत्सर्पिणी, जो विकास का युग था और दूसरा– अवसर्पिणी, जो व्यक्ति की अवनति का काल था।2 प्रत्येक युग के छः भाग माने गये है । आधुनिक मानव – युग अवसर्पिणी काल का पंचम युग है। इसके पूर्व चतुर्थ युग में वर्तमान विश्वकाल के सभी चौबीस तीर्थंकर का अविर्भूत हुए।3 इसमें चौदह युगादि – पुरुषों ने ग्यान तथा विवेक के आधार पर क्रमशः समाज तथा राज्य की स्थापना में योग दिया।*

कुंजी शब्द – क्रमिक विकास , युगादि पुरूष , भोगभूमि, कर्मभूमि , उत्सर्पिनी , महत्तास्पद , चक्रवर्तिन, पूजीभूत ।

जनमनीषियों का विश्वास था कि व्यक्ति की आत्मा मूलतः पवित्र तथा विवेकशील है। वह स्वतन्त्र है, उसे जीवन का समान अधिकार है। अत : उसकी संस्थाओं का आधार नैतिक ही होना चाहिए। राज्य की आवश्यकता इसलिए हुई, क्योंकि व्यक्ति अपने लौकिक जीवन में पतनोन्मुख हो गया। उसकी बुराइयों के निराकरण के लिए राज्य में दण्ड – शक्ति का होना भी आवश्यक है। थानांग में दण्ड – शक्ति के विकास के सात चरणों अथवा रूपों का उल्लेख हुआ है।4 दण्डनीति के कुछ स्वरूपों को उसने स्वीकार नहीं किया है । दण्ड का उद्देश्य दोष – निवारण मात्र नहीं है, उसे राज्य के नैतिक ध्येय को साध्य बनाना है। अन्यथा हिंसा का प्रयोग करने से राज्य का यह एक विकार है । उच्चतम आध्यामिक जीवन की प्राप्ति के लिए राज्य बहुत आवश्यक ही नही है।5 राज्य की अवधारणा का इतना चिन्तन आगम – ग्रन्यों में दार्शनिक सिद्धान्तों के माध्यम से अभिव्यक्त है । नैतिक उद्देश्य से समन्वित विकार रूप राज्य की अवधारणा तथा उसके स्वरूप की क्रमबद्ध शास्त्रीय विवेचना अवान्तर कालीन जैन – ग्रन्थों में की गई है । आदि पुराण तथा हेमचन्द्र के आदिश्वरचरित में लिखा है कि उत्सर्पिणी काल के प्रथम युग का दिव्य मानव क्रमशः प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण भौतिक मानवरूप ग्रहण करने लगा । उसकी सभी आवश्यकताओं की पूति कल्पवृक्षों द्वारा हो जाती थी । किन्तु धीरे – धीरे सभी कल्पवृक्ष लुप्त होने लगे और व्यक्ति प्र.ति के अनुदान से वंचित हो गया । उसके नैतिक पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। अतः इसी काल में विवेक परम्परा के प्रतिनिधि स्वरूप कुलकरों का आगमन हुआ, जिन्होंने प्रकृति के विभिन्न अवयवों के साथ व्यक्ति को साहचर्य एवं समायोजन करना सिखलाया। किन्तु पतन की प्रक्रिया द्रुत होती गई । अतः युगादि पुरुषों ने व्यक्ति की प्रकृति के अनुरूप तथा अधिकार एवं कर्तव्य की सामाजिक भावना में संबद्धन के लिए दण्डनीति की क्रमशः तीन प्रकार की व्यवस्था की । ये तीन प्रकार है – हाकार, मकार तथा धिक्कार।6

सामाजिक भावना की यह प्रथम अनुभूति अंतिम आदि – पुरुष वृषभ के युग तक राज्य की धारणा में परिवर्तित होने लगी। भोगभूमि, जो व्यक्ति की सभी आवश्यकताएं कल्पतरू औषधि – पौधे तथा स्वतः तैयार होने वाली फसलों के द्वारा पूरा कर देती थी, अब कर्मभूमि में परिवर्तित हो गई थी । व्यक्ति को स्वयं अपने श्रम से अपनी जीविका अर्जित करनी थी । अतः वृषभ के कहने पर इन्द्र ने प्रदेश, पुर एवं ग्रामों की योजना करके उनमें मनुष्यों को बसाया । वृषभ ने व्यक्तियों के हितार्थ छः प्रकार के व्यवसायों की प्रतिष्ठापना की । वृषभ को मष्टा, श्रष्टा, अधिकर्ता तथा आदि पुरुष कहा गया । तदुपरान्त देवताओं ने उन्हें पवित्र किया और वे अधिराज बन गये । अपनी इस सत्तापत्र स्थिति में उन्होंने सामाजिक संस्थाओं की स्थापना की । समाज को तीन वर्गों में विभाजित किया – क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र। इनके धर्म वही जो बाह्मण – ग्रन्धों में उल्लिखित है। उन वर्णों में उन्होंने अनुलोम पद्धति से अन्तर्जातीय विवाह की भी व्यवस्था की। अपने वर्ण – धर्म से च्युत होने पर व्यक्ति को राजा दण्डित कर सकता था। व्यक्ति अभी भी निर्दोष था । अतः दण्ड के वही तीन प्रकार

अनुरूपी लेखक

पर्याप्त थे । बहुत साधारण अपराध के लिए व्यक्ति को हाकार – प्रकार का दण्ड दिया जाता था । जिसमें उसे हा कहकर अपनी त्रुटि के लिए दुख प्रकट करता था । मा कहकर उसे पुनः न करने का आश्वासन देता था । गम्भीर अपराध के लिये धिक्कार दण्ड का प्रयोग होता था, जब उसे धिक कहकर लज्जित होना पड़ता था ।7

राज्य की यह महत्ता उसकी पूर्ण सता की अवध ाारणा के रूप में परिवर्तित हो गयी। जब वृषभ के पुत्र भरत पर सामाजिक संरक्षा का दायित्व आया । व्यक्ति निरंतर पतनोन्मुख होता गया । प्रथम तीन प्रकार का दण्ड – विधान उसे नियन्त्रित करने में अक्षम सिद्ध होने लगे । भरत ने तब शेष चारों प्रकार के दण्ड – विधानों के प्रयोग के द्वारा प्रजा की दुष्टों से संरक्षा की । शेष चारों प्रकार के प्रयोग का अभिप्राय है कि अब कोई अभियुक्त शारीरिक यातना द्वारा भी दण्डित किया जा सकता था। इस तरह एक .ढ़ राज्य की स्थापना करके भरत ने विश्व – राजस्व प्राप्त किया और चक्रवर्ती हुए ।8

आदिपुराण की मानव – विकास की इस विस्तृत गाथा में जैन आचार्यों की राज्य अवधारणा सम्बन्धी एक विशेष .ष्टिकोण परिलक्षित होता है । व्यक्ति द्वारा विकसित राज्य एकलौकिक तथा प्रभुता सम्पन्न संस्था है। यह उद्देश्य में नैतिक और स्वरूप में गुणात्मक भी है । समाज के कल्याणकारी कार्यो का दायित्व भी उस पर था। यह कहने कि आवश्यकता नही है कि ब्राह्मण चिंतक राज्य के स्वाभाविक विकास में विश्वास करते थे, व्यक्ति विशेष (आदि –पुरुष) के द्वारा उसकी संरचना में नही । उन्होने राज्य की अवधारणा का अधिक सूक्ष्म गहन तथा तर्क गर्भित विश्लेषण किया, जब कि जैन राजनीतिग्यों ने एक मनोवैज्ञानिक किन्तु स्थूल विवेचना की । तथापि राज्य की अवधारणा तथा स्वरूप का जो भी चिन्तन किया गया, कदाचित तत्कालीन राज्य की वस्तुस्थिति पर आधारित था। जैनविग्यों की राज्य – धारणा का एक पूजीभूत समग्र रूप नीतिवाक्यामृत में अभिव्यक्त होता है, जिसमे राज्य को धर्म नैतिकता अर्थ तथा व्यक्ति – जीवन की सफलता का श्रोत कहा गया है। बेनी प्रसाद लिखते कि हेगेल के आदर्शवादी राजनीति – दर्शन के समर्थकों का हृदय उल्लास से भर उठेगा। जब उन्हें यह मालूम होगा कि शताब्दियों पूर्व किसी ने राज्य को व्यक्ति – जीवन की परम कल्याणकारी संस्था माना था।9 किन्तु पाश्चात तथा आदर्शवाद तथा जैन धारणा में भी राज्य आत्मोन्नति का परम साधन है, अन्यथा उसके अस्तित्व की कोई सार्थकता नही। वास्तविक शासक तो धर्म है, वे नैतिक नियम है, उनकी अनुभूति पूर्ण नैतिक शासक ही कर सकता है।10

जैन राज्य – धारणा न तो ब्राह्मण राज्य – चिंतन की भाँति गम्भीर तथा व्यापक है और न बौद्ध राजा – व्यवस्था की तरह संक्षिप्त, किन्तु स्पष्ट। उसके सीमित एवं सांकेतिक राज्य – विश्लेषण का आधार आवश्यक ही वैज्ञानिक तथा तार्किक है । वस्तुतः जैन विचारकों ने राज्य के सभी पहुलओं पर विचार ही नहीं किया । उनके चिंतन का दृष्टिकोण तो सुधारवादी था, जिसमें तत्कालीन प्रचलित राज्य की नीति, कार्य एवं ध्येय में जिन सिद्धान्तों की ब्युत्पति की गई। उनसे यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि राज्य एक सर्वसत्तामय संस्था है , जो जीवन के विविध पक्षों का संतुलित विकास कर सकती है ।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पाण्डे जी0 सी0, पूर्वो. पृ. 54 – 55.
2. थनांग, 3.89.
3. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया , पृ0 417.
4. धानांग, 7.76.
5. पाण्डे जी0 सी0, पूर्वो0, पृ.33.
6. आदिपुराण 38. 4 – 49.
7. बही . 3.241 – 45 , 16.130 – 92, 250 – 54, 3.84 – 49.
8. आदिपुराण, 34. 4 – 49.
9. प्रसाद बेनी, द थ्योरी ऑव गवर्नमेण्ट इन एंशिएंट इण्डिया, पृ. 230
10. Rthur A - Macdonell; A History of Sanskrit Literature] P- 28 & 29-

*****